International Journal of Information Movement Vol.I Issue VII (November 2016)
Website: ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 37-43

जैनेन्द्र एवं शरत्चन्द्र के नारी पात्रों की परिवार एवं समाज में भूमिका

ममता देवी
शोधार्थी, पीएच.डी (हिन्दी)
सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

जैनेन्द्र और शरत्चन्द्र दोनों का ही रचना संसार नारी केंद्रित है। इनकी रचनाओं में नारी ही घर और परिवार तथा समाज का आधार है ऐसा दोनों उपन्यासकार मानकर चले हैं। यद्यपि जैनेन्द्र ने नारी के प्रेयसी रूप को अपने उपन्यासों में सर्वाधिक स्थान दिया है पिफर भी वे विवाह संस्था की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते क्योंकि प्रेम जीवन को बहलाने की वस्तु तो बन सकती है, लेकिन जीवन उसके लिए स्वाहा नहीं किया जा सकता। जीवन तो दायित्व है और विवाह वास्तव में उसकी पूर्णता की राह उसकी शर्त है। अपनी रचना 'परख' में जैनेन्द्र जी ने स्पष्ट लिखा है–'इस दायित्व से एक ख्याल–एक भावना में बहकर कैसे छुट्टी पाई जा सकती है? प्रेम को इस दायित्वपूर्ण विवाह की बात में कैसे दखल दिया जाये? जीवन प्रेम से ज्यादा महत्व की–ज्यादा ऊंची और पवित्र चीज है। प्रेम–जो अंत में एक आवेश–एक भाव है, उस पर जीवन कैसे निछावर कर दिया जाए?'[1] तात्पर्य है कि जैनेन्द्र कुमार प्रेम को पवित्र तो मानते हैं, सर्वोच्च भी मानते हैं मगर उसके लिए जीवनदान दिया जा सके इतना महत्वपूर्ण नहीं मानते।

जैनेन्द्र कुमार विवाह और परिवार को प्रेम पर प्राथमिकता प्रदान करते हैं क्योंकि इन्हीं के कारण समाज को स्थायित्व सुलभ है। लेकिन इसके साथ–साथ जैनेन्द्र ने प्रेम को भी समानान्तर धरातल पर रखा है। इस प्रकार गृहस्थी और प्रेम दोनों को साथ लेकर चलने वाले जैनेन्द्र के उपन्यासों के पात्र टूट–टूट कर भी घर और परिवार की परिधि के वृत्त से बाहर नहीं जा पाते। वे घूम फिर कर उसी धुरी के इर्द–गिर्द मंडराते रहते हैं। घर और परिवार पारस्परिक सामंजस्य से ही चलते हैं, वहां पर पत्नी और पति दोनों का ही सौहार्द, सहाचर्य और समाधिकार वांछित है। एक का ही एकाधिकार घर–परिवार में बाधक है। जैनेन्द्र तो गृहस्थ जीवन में ही नहीं अपितु प्रेम में भी इस सामंजस्य की भावना को महत्व देते हैं। प्रेम जो कब्जा चाहता है, वैसे–प्रेम की छूट समाज के लिए अनिष्टकर है। प्रेम में यदि इस आधिपत्य की आकांक्षा है कि फ्वह मेरी है, मेरी ही है मेरी हो जाय– तो इस प्रेम में' विश्वास रखो, गंदापन है। स्वच्छ और वास्तविक प्रेम इस प्रकार की आधिपत्य आकांक्षा से कुछ संबंध नहीं रखता है। वह उसकी प्रसन्नता, उनके सुख, उनके संतोष की ओर सचेष्ट करता है। उस पर कब्जा कर लेना नहीं चाहता।'[2] इसी प्रकार से घर–परिवार में भी पति और पत्नी एक–दूसरे के सुख–दुःख को ध्यान रखते हैं, तभी दाम्पत्य जीवन सुखी और स्वस्थ रह सकता है अन्यथा नहीं। केवल एकाधिकार या एकछत्र अधिकार प्रेम के क्षेत्र में सराहनीय न होकर निंदनीय हो जाता है।

शरत्चन्द्र इस बात को कहीं और भी अधिक गहराई से समझते हैं। तभी तो उनकी प्रेमिकाएं पत्नियों से भी बढ़कर समर्पित और सेवाव्रती है। विशेषकर विलासी जैसी नारियां जोकि अपने पति तथा प्रेमी के प्रति अटूट भक्ति रखती है। विलासी के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। अनेकानेक यातनाओं के बीच भी वह अकेली मृत्युंजय की रोग–शैयया को नहीं छोड़ती। सुनसान बाग में अकेले पड़े पति के साथ बराबर रहने का साहस उसमें है। मृत्युंजय के देहावसान के बाद वह भी विष खाकर आत्महत्या कर लेती है। यह सतीत्व का आदर्श उसने किसी पोंथी से पढ़कर नहीं पाया, वरन् यह उसके मन की सहज वृत्ति है। और इस तेज से उसका सारा व्यक्तित्व अभिभूत है। उसके चरित्र में एक ऐसी दीप्ति है जोकि पाठक को प्रभावित कर लेती है।[3] यही आकर्षण प्रेम का प्रथम सोपान है।

शरत्चन्द्र प्रेम को केवल मांसल और क्षणिक आवेग नहीं मानते अपितु वे उसे एक गंभीर और स्थायी भाव मानते हैं। जबकि जैनेन्द्र उसे क्षणिक और अस्थायी भावबोध समझते हैं। प्रेम कई बार व्यक्ति को चंचल और चपल बनाता है। क्योंकि उसमें स्थायित्व का अभाव होता है। उदाहरण के लिए शरत्चन्द्र के 'विप्रदास' की वंदना दोहरे चरित्र का निर्वाह करती है–'वंदना के चरित्र में दृढ़ता होते हुए भी उसके व्यक्तिगत व्यवहार में काफी चांचल्य है। उसकी इस प्रवृत्ति को अंग्रेजी के 'फ्रीकिश' शब्द द्वारा भली–भांति व्यक्त किया जा सकता है। क्षण भर के लिए अब उसका व्यवहार किसके प्रति कैसा हो जाएगा, इसे कोई भी नहीं समझ सकता। आकर्षण तथा विकर्षण उसके मन में बड़ी तीव्रता से प्रवेश करते हैं, परंतु किसी के प्रति सतत् विकर्षण उसका स्थायी भाव नहीं है। उसके इस प्रकार के चंचल व्यवहार का प्रधान कारण उसके व्यक्तित्व की सरलता तथा स्नेहप्रियता है।'[4]

चंचल या स्नेही व्यक्ति किसी के भी प्रति त्वरित रूप से आकृष्ट होता है और विकर्षित भी द्रुतगति से हो जाती है। इस प्रकार से स्नेह संबंधों में सर्वथा स्थायित्व ही नहीं होता। जबकि पारिवारिक संबंध सूत्रों में एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। जैनेन्द्र भी प्रेम को प्रकारान्तर से प्रवाहमान और प्रवेगशील मानसिकता ही मानते हैं–'स्पर्धा, श्रद्धा, ईर्ष्या और अर्चना एक ही भावना के दो ओर–छोर हैं, ऋण और धन दो सिरे हैं। उन दोनों के बीच में रहने और बहने वाला तत्व है

आकर्षण।'[5] वैसी स्थिति में संबंधों में स्थायित्व लाने का कार्य विवाह अथवा परिवार ही करता है। भले ही उसमें स्त्री या पत्नी की स्थिति गौण है। लेकिन प्रेम में भी छोटे बनकर ही तो प्रेमी या प्रेमिका महान बनते हैं। तभी तो जैनेन्द्र की कट्टो यह कहती है 'जिसे छोटा बनना आता है, उसे प्यार करना आता है।'[6] तभी तो वह सत्यधन से विश्वासघात पाकर भी मुसीबत में उसकी सहायता करती है उसे चालीस हजार रूपये दे देती है और उसी के कहने पर बिहारी के साथ विवाह करके वैधव्य यज्ञ रचाती है। इस प्रकार से भले ही सत्यधन की परिणीता पत्नी गरिमा है तदापि उसके हृदय को कट्टो अपने त्याग और समर्पणशील से जीत लेती है। प्रेम विवाह के प्रतिबंधित हो जाने के बावजूद वह अपने स्नेह संबंधों को सतत् बनाये रखती है। लेकिन इसके बावजूद जैनेन्द्र यह मानने को उद्यत नहीं है कि बिना कुटुम्ब और परिवार या संस्था के बिना भी समाज का अपना कोई अस्तित्व है। तभी तो 'सुनीता' की सुनीता अपने पति से अत्यन्त प्रताड़ित होकर भी परिवार को टूटने से बचाने का यत्न करती है–'समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए समझ लिया जाये और कानून तोड़ने के लिए? क्या सच मानवता वही आयाम है उस रूढ़ संस्था के सहारे जिसे कुटुम्ब कहते हैं और जो विवाह पर टिकी है।'[8]

जैनेन्द्र विवाह को कोरा प्रेमावेग या भावावेग भर नहीं मानते अपितु एक गुरूतर दायित्व बोध समझते हैं। उस दायित्व से पलायन करके जो लोग साधु या सन्यासी बन जाते हैं वे उन्हें अपूर्ण ही मानते हैं क्योंकि उनका जीवन अपूर्ण और एकांगी है तभी तो वे ऐसे आधे–अधूरे पुरुषों को साधु समझने के लिए समुद्यत ही नहीं हैं–'जिसने विवाह जाना ही नहीं और स्त्री को झेला ही नहीं वह साधु नहीं बन सकता।'[9] जैनेन्द्र यथार्थ में विश्वास रखते हैं वे जानते हैं कि भोग के बाद योग संभव हो सकता है। व्यर्थ के ढकोसलों में नहीं पड़ते हैं। यही नहीं जैनेन्द्र कुमार प्रेम को भी कोई अलौकिक या लोकोत्तर स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह इहलौकिक भाव है जो प्रेम सांसारिक संबंधों की उपेक्षा करता है उनके लिए वह अलौकिक या आदर्श नहीं हो सकता, वह लोकबाह्य भले ही हो। तभी तो उनकी सुनीता यह घोषणा करती है– 'अलौकिक ही कुछ हो सकता है, जो लौकिक का आधिपत्य अस्वीकार कर दे। बुद्धि अतीत जो है, उसे चलाने के लिए बुद्धि के पैर और तर्क के स्टेप्स नहीं काम देंगे। इससे मैं सहमत हूं कि लौकिक तो अलौकिक का बहिष्कार ही करे। पर अलौकिक को निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए कि अलौकिक की लौकिक पर हावी होने की योजना नहीं है। मैं सोचती हूं लौकिक के दिशा–दर्शन, मार्गदर्शन के हेतु से अलौकिक यदा–कदा घटित होता है बहिष्कृत तो उसे करना ही होगा, पर उससे चेतावनी भी ले लेनी होगी। मीरा को समझती मैं भी नहीं हूं, पर समझती हूं, वह समझी जा सकती है। मीरा के हृदय को राणा के हृदय के प्रेम की प्यास से कहीं उत्कट प्रेम की व्यथा को धारण रखे रहना पड़ा।'[10] इस प्रकार से वे प्रेम को संसारबाह्य नहीं मानते। कहने की आवश्यकता नहीं है कि नारी रूप पत्नी ही पति को सांसारिकता की वास्तविकता का बोध कराती है। तभी तो सुनीता अपने पति श्रीकान्त के आदेश पर हरि प्रसन्न के समक्ष निश्वसन होकर उसे सांसारिक यथार्थ का बोध कराती है– 'हमारा यह काम है कि हम पुरुष, को सामने चलावे, जब वह सामने बढ़ता है, हम पीछे–पीछे है। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती है। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह भी न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफतार होकर फिर उसे आगे–आगे चलना होगा। पुरुष के इस अधिकार के आगे स्त्राी कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यह अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।'[11]

स्त्री ही पुरुष को सांसारिक बंधनों में बांधकर उसको उसके वास्तविक सामाजिक दायित्वों का बोध कराती है। प्रेम अपने स्थान पर है लेकिन घर और परिवार की जिम्मेदारियां ही तो एक नर को सच्चा पुरुषार्थ युक्त पुरुष बनाती हैं।

जैनेन्द्र विवाह संस्था को पति और पत्नी का केवल व्यक्तिगत, मामला नहीं मानते अपितु वे उसे एक सघन सामाजिक सरोकार समझते हैं, तभी तो लिखते हैं– 'विवाह की ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या जो टाले टल सकता है? वह गांठ है जो बंधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाये, लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है।'[12]

विवाह संबंधों के विघटन में प्रायः व्यक्ति स्वातंत्राय को भावना या फिर अहं ही साधक सिद्ध होता है। अतएव जैनेन्द्र व्यक्तिगत अहं के विगलन के पक्षधर हैं। उनकी सुनीता कहती है–'जो अहम् की शक्ति से कठोर होकर खड़ा है, वह तो खील–खील ही होगा। जो अपने में मात्रा श्रद्धा की शक्ति लेकर इतना सशक्त बना है कि अहंकार के सहारे की जरूरत नहीं है, वह भला कैसे खील–खील होकर बिखर सकता है? क्योंकि यह कठोर है ही नहीं। वह तो प्राणवायु के समान शून्य है। चट्टान टुकड़े–टुकड़े होकर रहेगी, पर आंधी के टुकड़े कैसे होंगे?

जैनेन्द्र की भांति शरत्चन्द्र भी नारी मन के चितेरे हैं वे भी नारी के सामंजस्य मूलक स्वभाव से अपरिचित नहीं हैं। तभी तो उनके उपन्यासों की नारियाँ विषम से विषम परिस्थितियों में घर–परिवार को टूटने से बचाने का प्रयास करती हैं। शरत्चन्द्र यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'अवस्था के समान का ज्ञान जैसा पुरुषों में है वैसा स्त्रियों में नहीं है, भाभी, मां, बुआ, अथवा दादी के पास छोटों की भांति रहकर थोड़ी बहुत उम्मीदवारी करती है। नारी जीवन में जो कुछ थोड़ी बहुत बातें सीखने की होती हैं वे सब सीख लेती है और पिफर इसके उपरान्त वे एकदम से सबसे उफंची श्रेणी में जा बैठती है। उस समय सोलह वर्ष से लेकर छप्पन वर्ष तक की सभी स्त्रियां मानो समान अवस्था वाली हो जाती हैं।'[13]

शरत्चन्द्र के 'चन्द्रनाथ' की हरिबाला के चरित्र की यह विशेषता है। जोकि सरयू की सखी के रूप में चित्रित है। यह केवल उसी की नहीं, नारी मात्र का स्वभाव है कि वह स्वयं को अजनबी से अजनबी वातावरण में भी समायोजित कर

लेती है। इसीलिए वह प्रत्येक पुरुष के साथ निबाह ले जाती है। यही भारतीय नारी का आदर्श है। इसी के कारण परिवार और समाज में स्थायित्व है।

1 घर और बाहर का संघर्ष :

पति और पत्नी के संबंधों में दरार का कार्य प्रायः बाह्य हस्तक्षेप भी करता है। क्योंकि उन दोनों के दाम्पत्य जीवन में जब कोई अन्य व्यक्ति प्रविष्ट होता है तो वहां पर एक त्रिकोण बनता है। वही स्थिति स्त्री, पुरुष के अलगाव का कारण बनती है। वैसे जैनेन्द्र ने तो 'सुनीता' में सुनीता के पति श्रीकान्त के माध्यम से ही परपुरुष (हरिप्रसन्न) का प्रवेश कराया है इसलिए उनका दाम्पत्य जीवन दरकता नहीं है क्योंकि सुनीता ने जो कुछ भी किया वह स्वेच्छा से नहीं अपितु पति की इच्छा से किया था। यद्यपि वैसा सब सामान्य व्यवहार में होता नहीं है।

'त्यागपत्र' की मृणाल पति के अत्याचारों से गृहत्याग करती है, तदापि वह पति के प्रति अनुरक्त रहती है, यही उसकी वास्तविक विडम्बना है। क्योंकि वह कहती है कि 'मैं स्त्री धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूं। उसका स्वतंत्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस डाले रखे? वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आंखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया।'[14] वह किसी पर भार बनकर नहीं जीना चाहती। यदि एक बार स्त्री किसी कारण से पतिगृह की चारदिवारी से बाहर आयी कि फिर वह कहीं की भी नहीं रहती। क्योंकि तब उसे बाहर की तो बात जाने दीजिए कोई पतिगृह में भी अपनाने को उद्यत नहीं रहता है। यही सोच–समझकर, तो 'त्यागपत्र' की मृणाल पतिग्रह त्याग के उपरान्त अपने पैतृक परिवार में नहीं जाती। वह कहती है कि 'स्त्री जब तक ससुराल की है, तभी तक मायके की है। ससुराल से टूटी तब मायके से तो आप ही में टूट गई।'[15]

यद्यपि उसे अपने इस निर्णय के लिए दुनिया भर की बातें सुनने को मिलती हैं। लेकिन वह इन सब की परवाह भी नहीं करती है। 'लोग क्या समझेंगे इसमें बोझ अपने उपर लेकर हम क्यों अपनी चाल को सीधा नहीं करते हैं, क्यों उसे तिरछा–आड़ा बनाने की कोशिश करते हैं। लोगों के अपने मुंह हैं, अपनी समझ के अनुसार वे कुछ–कुछ क्यों न कहेंगे? इसमें उनको क्या बाधा है? उन पर किसी का फिर क्या आरोप हो सकता है? फिर उन सबका बोझ आदमी अपने उफपर स्वीकार कर अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार करता है–यह उसकी कैसी भारी मूर्खता है?'[16] मृणाल की भांति ही शरत्चन्द्र की राजलक्ष्मी है जोकि पुरुषवर्ग के वर्चस्व से पीड़ित है। वह समझती है कि भारतीय समाज में पुरुषों को पहले से ही कुछ विशेष अधिकार प्राप्त रहे हैं इसीलिए नारी को ही घर और समाज की मर्यादा को बचाये रखने के लिए सब कुछ सहन करना पड़ता है। उसका पति (प्रेमी) श्रीकान्त आलसी और प्रमादी है उपर से अत्याचारी भी। तदापि वह मृणाल की भांति समाज को टूटने से बचाये रखने के लिए ही सब कुछ मौन मूक भाव से सहन करती है : 'पुरुष जाति चिरकाल से ही उच्छृंखल रही है, चिरकाल से ही कुछ–कुछ अत्याचारी भी रही है : किन्तु इसीलिए तो स्त्री के पक्ष में भाग खड़े होने की युक्ति काम नहीं दे सकती। स्त्री जाति को सहन करना ही होगा, नहीं तो संसार (समाज) चल नहीं सकता।[17]

2.ममतामयी माताएं :

जैनेन्द्र और शरत्चन्द्र दोनों ही उपन्यासकारों ने नारी के माता स्वरूप का वर्णन किया है। चाहे वह स्वमाता रही हो या विमाता उसकी ममता के मूल्य का उचित आंकलन दोनों ही रचनाकारों ने किया है। जैनेन्द्र न तो पुरुष वर्ग के ब्रह्मचारी रहने के पक्ष में हैं और न ही नारियों के मातृत्व के राष्ट्रीयकरण के पक्षधर हैं। उनके अनुसार एकाकी ब्रह्मचर्य वैसा ही मिथ्या है जैसे वनस्पतिहीन पृथ्वी। वे समाजवादी जो विवाह नहीं कर समाज चाहते हैं, माताओं के दूध को बाजार में बेचना चाहते हैं। गृहस्थी उजाड़कर जो समाज बनेगा वह समाज नहीं, लश्कर कैम्प होगा।'[18]

समाजवादी या साम्यवादी चिन्तक नारी की मुक्ति मातृत्व से मुक्ति में ही मानते हैं। विदेशों व पश्चिमी नारीवादी विचारकों का भी यही मन्तव्य है। लेकिन शरत्चन्द्र और जैनेन्द्र मातृत्व से मुक्ति को ही नारी मुक्ति का पर्याय नहीं मानते उनके लिए नारी का यही रूप सर्वाधिक सामाजिक है। जैनेन्द्र तो कोई बहुत अच्छा चरित्र मां की ममता से युक्त नहीं दे सके परंतु शरत्चन्द्र की हिमांगिनी में वह कूट–कूट कर भरी हुई है। उनकी 'मंझली दीदी' की यह नारी वात्सल्य भाव से भरपूर है। उसकी जेठानी कादम्बिनी का सौतेला भाई किशन जब अपनी बहन के घर अनाथ होकर आता है तो वह उसे देखकर जलभुन जाती है और उसे बात–बात पर डांटती पीटती है। यही नहीं, वह उसे खाने–पीने के विषय में भी तरसाती है तभी उस दीन–हीन अनाथ बालक किशन के प्रति उसकी देवरानी हिमांगिनी की ममता उमड़ पड़ती है। अनाथ किशन को कहती है– 'भाई तुझे मेरे सिर की कसम है आज से मुझे अपनी मरी हुई मां की जगह ही समझेगा।'[19] वह उस शिशु को अपना ही आत्मज मानकर उसका स्नेहपूर्वक पालन–पोषण करती है। उसके इसी मातृस्वरूप को लक्ष्य करके तो डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यह लिखा है कि 'इस प्रकार हम देखते हैं कि अनाथ बालक किशन के प्रति हिमांगिनी का सबल प्रेम ही 'मेजा दिदि' (मंझली दीदी) की मूल संवेदना है। इस कहानी से शरत् की यह मान्यता और भी दृढ़ हो जाती है कि वास्तविक वात्सल्य नारी का केवल अपनी संतान के लिए नहीं होता, वरन् किसी भी समय किसी भी बालक के लिए आषाढ़ के प्रथम मेघ की भांति आनायास ही उमड़ सकता है, और इस वात्सल्य के मूल में मोह, ममता, करूणा एवं परोपकार की भावना अबोध गति से बहती है।[20]

अपनी संतान से तो दुनिया की सभी माताएं स्नेह करती हैं परंतु हिमांगिनी का स्नेह तो सार्वजनिक है जोकि उसे सच्ची माता सिद्ध करता है। यद्यपि सारी की नारियां ऐसी ही ममतामयी माताएं नहीं हैं। अपितु दिगम्बरी जैसी वृद्धा तो अत्यन्त कठोर है। हिमांगिन की जेठानी कादम्बिनी स्वयं भी कम कर्कशा नहीं है। लेकिन फिर भी अधिकांश नारियों में मातृत्व का भाव विद्यमान है। जैनेन्द्र की भांति शरत्चन्द्र भी नारी जीवन की सपफलता उसी में मानते है– 'नारी की चरम् सार्थकता मातृत्व में है, यह बात शायद खूब गला फाड़कर प्रचारित नहीं की जा सकती है।'[21]

3. प्रेम और सौंदर्य :

प्रेम और सौंदर्य ये दो चीजें हैं जोकि सारे जीवन को पुरुष से कहीं अधिक मूल्यवान और स्पृहणीय बनाती हैं। नारी में सुंदरता तो निसर्ग सिद्ध है ही यदि उसमें प्रेम का भी समावेश हो जाता है तो यह तो सोने में सुगंध जैसी बात होती है। जैनेन्द्र सौंदर्य से कहीं प्रेम को अधिक महत्त्व देते हैं लेकिन वे उसे स्वयं से संघर्ष अथवा आत्मसंघर्ष ही मानकर चलते हैं 'मैं नहीं जानता प्रेम क्या वस्तु है। पर मालूम होता है कि अपने साथ वह एक युद्ध है। अपने ही किलों को एक–एक करके उसमें तोड़ना होता है। जिन्हें स्वयं बड़े प्रयत्नों से बांधा था, निर्मम होकर उन्हीं को गिराते जाना पड़ता है। इस तरह वह एक निरंतर आहुति है, जिसमें पल–पल जलना पड़ता है।'[22]

प्रेम में मनुष्य को बहुत कुछ ग्रहण त्याग करना पड़ता है क्योंकि प्रेम का आधार ही दान और विनिमय है। अपने अहं का विगलन भी करना होता है। तभी दो भिन्न अहन्ताओं का एक अस्तित्व बनता है। जैनेन्द्र प्रेम को अशरीरी मानते हैं, जबकि शरत्चन्द्र उसका आधार सौंदर्य स्वीकारते हैं।

इस सबके बावजूद वे प्रेम को घृणा का व्यापार नहीं समझते। उनके अनुसार 'जो कोई स्वर्गीय प्रेम का उपभोग करना चाहेगा वह इतना नहीं कर सकता, मैं प्रवृत्ति की ताड़ना से परे हूं प्रेम इतनी आसान चीज नहीं है। जीवन का प्रत्येक अणु परमाणु प्रत्येक रक्त–कण, अपनी उत्कृष्ट परिणति में विकास पाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। जिस देह में उसका जन्म होता है, उस देह में उसकी परिणति की निर्दिष्ट सीमा जब पूरी हो जाती है, तब वही परिणति जवानी कहलाती है। केवल तभी वह दूसरी देह के संयोग से सार्थक होने के लिए रग–रग और नस–नस में विप्लव का जो ताण्डव नृत्य मचाती है, इसे ही पण्डित लोगों के नीति शास्त्रों में पाश्विक और घृण्य बताया गया है। इसका तात्पर्य समझकर ही पण्डितों ने इसे घृणित कहा है, वीभत्स बताकर संतोष कर दिया है कोई प्रेम अभी घृणा की वस्तु नहीं हो सकता।'[23]

शरत ने वासना विरहित परंतु प्रेमपूर्ण निण्यार्ज सौंदर्य के स्वर्णिम चित्र उकेरे हैं। 'चरित्रहीन' की किरणमयी ऐसे ही मनोहर सौंदर्य की स्वामिनी है। कमल और अचला भी ऐसी ही नारियां हैं। शरत् के पात्रों में प्रेम और सौंदर्य का मणि–कांजन संयोग हुआ है।

4. सामाजिक संरचना और नारी :

भारतीय समाज की संरचना ऐसी है कि उसमें पुरुष पति का प्रभुत्व जन्मजात है। क्योंकि पुरुष द्वारा विरचित धर्मशास्त्रों ने नारी को नर की दासी ही तो अब तक निरूपित किया है। उसे सखी या मित्र और सहचरी का स्नेह और सम्मान कहां मिला है? स्पष्ट है कि स्त्री पुरुष का सहज स्वतः स्पफूर्त संबंध मर्यादा के विविध ढांचों में चरमराहट जरूर पैदा करता है। प्रेमियों के सचेत प्रयत्न तो क्या, स्पष्ट एहसास तक के बिना यह नैसर्गिक आकर्षण मर्यादा की छाती में शूल बनकर गड़ने लगता है। 'प्रेम की ऐसी अदम्य उर्जा की अपेक्षा असंभव है। इसलिए प्रेमी भले ही पतित मान लिए जाएं, लेकिन उनका प्रेम लोक कथाओं के रूप में सामाजिक स्मृति में सुरक्षित कर लिया जाता है। औसत व्यक्ति मीराबाई के व्यथित प्रेम के अंसुवन जल से अपने हृदय में भी प्रेम की बेल को सींचता है, भले ही अपने घर में मीराबाई के अस्तित्व की कल्पना तक उसकी बरदाश्त के बाहर हो।[24]

कहना नहीं होगा कि भारतीय भद्र वर्ग ने स्त्री को इतनी मर्यादाओं में आबद्ध कर दिया है कि वह स्वतंत्रता की बात सोच भी नहीं सकती। दूसरी ओर यही वर्ग राधा और मीरा का उर्जस्वल उपासक भी है। इसकी कथनी और करनी में भेद है। भारतीय व हिंदू वर्ण व्यवस्था में स्त्री भी शूद्र स्थानीय है। क्योंकि धर्माचार्यों और धर्मशास्त्रों ने उसका भी शूद्रों की भांति शिक्षा और धार्मिक कर्मकांड के अधिकार नहीं दिये हैं तभी तो वह यज्ञोपवीत (जनेऊ) की अधिकारिणी नहीं है। तदपि जात्याभिमान में गर्वित होकर वह भी स्वयं को सवर्ण पुरुष की पत्नी होने के कारण उसी से जोड़ती है। पुरुषवादी वर्चस्व की जो सत्ता अपने समाज के भीतर और बाहर उपनिवेशीकरण के विविध रूढ़ गढ़ती है। हमारे समाज का स्त्री विरोध श्रम विरोधी आंतरिक उपनिवेशीकरण वर्णाश्रम की विचारधारा और जाति व्यवस्था की संरचना में व्यक्त होता है। 'जाति व्यवस्था ने एक ओर महिमा मंडन, दूसरी तरपफ व्यक्तित्व के निषेध की चतुराई के जरिये ऐसा भावतन्त्रा गढा है जिसमें जीने वाली सवर्ण स्त्री स्वयं को शूद्र नहीं मानती, सवर्ण पुरुषवाद से जोड़ती है।'[25]

गीता जैसे धर्मशास्त्रों में भी स्त्री शूद्रों और वैश्यों को अद्यम योनि अथवा निम्नजातीय सिद्ध किया गया है तदापि एक सवर्ण स्त्री स्वयं को उच्चजातीय ही मानकर दलितों से छुआछूत बरतती है जबकि उसकी अपनी हैसियत भी वहां पर सम्मानजनक नहीं है। ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध आजकल सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर एक राष्ट्र व्यापी सामाजिक न्याय का आंदोलन चल रहा है। लेकिन दुर्भाग्य से सवर्ण जातीय स्त्रियां स्वयं को इस आंदोलन से अलग और

असम्पृक्त मानती है जबकि वस्तु स्थिति इसके विपरीत है– 'दुनिया में अगर न्याय का कोई एक विश्वव्यापी संघर्ष है तो वह है नारी के लिए न्याय का संघर्ष। अगर किसी मुद्दे पर हर सभ्यता, हर परंपरा का दामन दागों से भरा हुआ है, तो वह है स्त्री की अस्मिता का मुद्दा। इस न्यूनता का अहसास भी हर समाज के अवचेतन में मौजूद है। इसीलिए फ्अपने स्त्रीत्व के प्रति जागरूक और उसके प्रति आग्रहशील स्त्री से हर परंपरा डरती है, डर कर उसे गरियाती है। लेकिन नारी के लिए न्याय का संघर्ष भूमिकाओं की अदला–बदली का संघर्ष नहीं हो सकता। न ही यह समतापरक समाज के लिए जरूरी अन्य संघर्षों से न ही असम्पृक्त हो सकता है।[26]

जो धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था नारी का स्थान ढोल–गंवार और शूद्रों के साथ सुनिश्चित करती है भले ही वह व्यवस्था उसे देवी और दुर्गा बताये लेकिन वह उसे समानता कदापि नहीं दे सकती। जबकि उसी विषमतामूलक व्यवस्था को रामराज्य का नाम दिया जाता है। नारी को तो इसमें निर्वासन का दण्ड ही भोगना पड़ा है। नारी मुक्ति के इस संघर्ष को हम केवल राजनीतिक मानकर संतोष नहीं कर सकते क्योंकि अन्ततः और मूलतः तो यह प्रश्न व्यवस्था परिवर्तन का ही है। जब सारी व्यवस्था परिवर्तित होगी तो उसमें नारी को भी शूद्रों और पशुओं के साथ स्वतंत्राता और समता सुलभ होगी। अतएव सामाजिक न्याय का संघर्ष राजनैतिक सत्ता के संघर्ष तक सीमित नहीं है। यह संघर्ष परंपरागत सांस्कृतिक वर्चस्व के खिलाफ है। 'स्त्री और शूद्र को पशु के समकक्ष रखने वाली मर्यादा का प्रतिवाद करते हुए मर्यादा की ऐसी अवधारणा गढ़नी है जो पशु के साथ भी मानवीय व्यवहार करे। ऐसी मर्यादा प्रतिशोध के प्रस्थान बिंदु से नहीं, बल्कि प्रेम की गंगोत्री से आंरभ होगी। प्रचलित मर्यादा के सांस्कृतिक वर्चस्व के विरूद्ध इस नयी मर्यादा का संघर्ष सवर्ण पुरुष को भी दण्डित करने का नहीं, बल्कि उसे सूक्ष्म दासता से मुक्त करने के लिए होना चाहिए।[27]

नारियों के लिए सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में समता और स्वतंत्राता पाना उतना कठिन नहीं है जितना कि परिवारों में। क्योंकि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में वे संगठित होकर संघर्ष कर सकती हैं। लेकिर घर–परिवार का वृत्त इतना संकीर्ण और सशक्त है कि नारी उसमें स्वयं को एकाकी और असहाय ही अनुभव करती है। सामाजिक संरचना पर किसी न किसी धार्मिक व्यवस्था का प्रभाव होता है जोकि प्रायः ही पुरुष प्रधान और काल बाह्य तथा प्रगति विरोधी रही है। उसी को कई बार हम लोग साहित्य में भी परंपरा को मर्यादाबोध मान कर चलते हैं। किसी भी युग के सुधी साहित्यकार तक ऐसी धर्माधारित सामाजिक व्यवस्था के अन्यायों के विरोध में नहीं खड़े हो पाते हैं। इसके विपरीत कई बार तो वे उसका समर्थन ही कर रहे होते हैं। यथा एक स्थान पर जैनेन्द्र की कल्याणी बिल्कुल तुलसी के रामचरित मानस के अनुसूइया प्रसंग को ही पुनरावृत्त करती है। 'सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है। अपंग हो, विकलांग हो, जैसा हो, पति, पति ही होता है। पति देवता है। स्मरण रहे कि देवता अपने आप में नहीं सतीत्व की महिमा में प्रकाश में ही वह देवता है। इसलिए व्यक्ति रूप में संदेह बनकर पति के स्थान पर चाहे जो हो, कैसा हो वह अपूर्ण हो, सती उसको भी देवता बना सकती है।'[28]

स्पष्टतः ही यहां पर लेखक ने परंपरावादी सतीत्व का ही महिमामण्डन किया है। इसी प्रकार से शरत्चन्द्र की कुसुम भी ऐसा ही आवरण करती है। हम भारतीय नारी को आदर्श मानते हैं लेकिन उसके उसी मर्यादावादी पारंपरिक रूप को ही महिमाम्बित करते हैं जिसमें कि वह पुरुष सत्ता की चरणचेरी है। हम दिन–रात सुनते हैं कि 'भारत सीता और सावित्री का देश है और ऐसा सुनते ही आधुनिक चित्र वितृष्णा से मर जाता है क्योंकि सीता और सावित्री की जो छवि हमारे सम्मुख है वह अत्यन्त दब्बू, व्यक्तित्वहीन, सदा पति और परिवार की इच्छाओं की पूर्ति करने वाली औरत की छवि है। जब समाज इन मिथकीय चरित्रों की महिमा मंडित कर भारतीय नारी को आदर्श के रूप में निरूपित करता है तब ऐसा करने वालों के मन में कहीं न कहीं उन प्रतिभाशाली व व्यक्तित्व संपन्न स्त्रियों के प्रति नकार ही छिपा है, जो अपने जीवन को भी महत्वपूर्ण, अतः जीने योग्य मानती है।'[29]

5.विवाह और समाज :

जैनेन्द्र कुमार विवाह को प्रेम की पराकाष्ठा या फिर चरम परिणति मानते हैं 'प्रेम के ओर पर, छोर पर, दो मैं होते हैं। दोनों वे गिर आते हैं, गल आते हैं तो ही प्रेम का संचरण हो जाता है। इसमें इन दोनों ओर की अहन्ताओं को चुनौती है। दोनों के लिए इसमें कष्ट ही कष्ट है, अपार कष्ट, किंतु अपार सुख भी इससे दूसरा नहीं।[30]

प्रेम भावुकता का विषय हो सकता है क्योंकि वह क्षणिक आवेग होता है भले ही वह कितना ही आल्हादक क्यों न हो। उसमें भले दो अहन्ताओं का विलय भी क्यों न हो जाता हो–यह सब दो व्यक्तियों का व्यक्तिगत विषय है।

लेकिन जब विवाह की बात आती है तो वह विषय व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हो जाता है। वह दो व्यक्तियों या स्त्री पुरुष का ही पारस्परिक आदान–प्रदान मात्र नहीं है अपितु विशिष्ट है तभी तो जैनेन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि विवाह सामाजिक संस्था है। उससे परिवार बनता है जो समाज की इकाई है। उसे केवल दो का निजी संबंध समझना और उस आधार पर विवाह को स्थापित करना गलत होगा। क्योंकि तब उसकी भूमिका सामाजिक न होकर कामुक होगी।[31] इस प्रकार से विवाह प्रेम का अनिवार्य उपकरण या आधार नहीं है, वह एक सामाजिक दायित्व है। प्रेम अपने लिए पूर्णतया स्वतंत्र सुलभ होता है लेकिन विवाह के बंधन मे बंधने के बाद व्यक्ति अकेला नहीं रहता। अतः उसकी स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता भी नियंत्रित हो जाती है। तभी तो 'सुखदा' की नायिका सुखदा आत्मविश्लेषण करती है 'विवाह पर मुझे ठहरना चाहिए। वह क्या चीज है? मुझको मालूम होता है कि जीवन में उस जगह आकर एक मंजिल पूरी और दूसरी आरंभ होती है। वहां से रास्ता

कुछ ओर तरह का होता है। मानो राह अब तक समतल थी, अब वह ऊपर को चलती है। सरपट भागना वहां संभव नहीं। वहां व्यक्ति अकेला नहीं, दूसरा भी साथ में है। दूसरा भी साथ नहीं है, अन्य अनेक भी साथ हैं। विवाह के बाद व्यक्ति निरा व्यक्ति नहीं है वह नागरिक भी है। वह बड़े सवाल का एक अंक है। वह गुणन की इकाई है और सपने ही उसके साथ नहीं है, दायित्व भी अब उसके साथ लग पड़ता है। लेना ही नहीं, अब उसे देना भी है।'[32]

यही ऊंच–नीच समझकर तो दाम्पत्य जीवन में स्त्री–पुरुष गरलपान करते रहते हैं। वे एक–दूसरे को विपरीत रहते भी झेलते हैं, निबाहते है सहारते हैं। तभी घर–परिवार बने और बंधे हुए हैं नहीं तो समाज सूत्र कभी का छिन्न–भिन्न हो जाता।

जैनेन्द्र की नारी परिवार में अधिकार नहीं मांगती अपितु वह अपने ऊपर पुरुष का ही अधिकार चाहती है। क्योंकि इस सबसे उसको समाज में स्वीकृति मिलती है। तभी तो सुखदा कहती है–'स्त्री को राह देना उसे न समझना है। गति वह उतनी नहीं चाहती जितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में दूसरे का अपने पर स्वत्व शायद स्वामित्व भी चाहती है। वह न आकर पुरुष की ओर से निपट अनुगति आती है तो इस पर स्त्री का क्षोभ लांघ जाता है।'[33] भारतीय ग्रामीण समाज में आज भी कितनी ही पत्नियां पति द्वारा पीटे जाने तक को अपना सौभाग्य समझती हैं। लेकिन यह सब अब युगानुरूप नहीं है। स्त्री को भारतीय समाज में इतना आत्महीन बना दिया गया है कि वह अपना उचित अधिकार तो क्या मांगेगी, अपने उफपर होने वाला अन्याय तक का प्रतिकार वह नहीं कर पाती।

एक ओर पुरुष सत्ता का प्रभुत्व है तो दूसरी ओर प्रतिशोध या प्रतिरोध की स्थिति है लेकिन जैनेन्द्र और शरत्चन्द्र दोनों ही रचनाकारों के नारी पात्रों में यह उत्तर पक्ष दुर्बल है। क्योंकि अन्ततः तो वे दोनों भारतीय पुरुष ही तो हैं। उन्होंने वैसी ही मानसिकता नारी पात्रों की चित्रित की है। उदाहरण के रूप में शरत्चन्द्र की 'विराजबहु' को हम देख सकते हैं उसे अपने सतीत्व पर एकपक्षीय गर्व है। सती सावित्री के सम्मुख अपने व्यक्तित्व को रखती हुई वह यह कहती है 'सतीत्व में मैं ही उनकी अपेक्षा कहां कम हूं। मेरे ही समान सतीत्व की मर्यादा का पालन करने वाली स्त्रियां भी संसार में हो सकती हैं किन्तु सतीत्व का मुझसे भी अधिक समझने वाली कोई स्त्री है, यह बात मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूं।[34]

'विराजबहु' सतीत्व में अपना उपमान अन्य नारियों को ही क्यों बनाती है वह अपने सतीत्व या एकनिष्ठा की तुलना किसी पुरुष से ही क्यों नहीं करती? यही नहीं, जिन शास्त्रकारों ने सतियों के आदर्श रूप में सीता और सावित्री का चरित्र गढ़ा है। वे एकाध पुरुष का भी तो ऐसा ही पत्नीव्रत गढ़ते। यही तो पुरुष प्रधान मानसिकता है। किंतु 'विराजबहु' का अध्ययन इस बात का स्पष्ट रूप से परिचायक है कि 'शरत ही नारियों के प्रेम में सैक्स की प्रधानता नहीं है। उनके पुरुष पात्रों एवं नारी पात्रों के पारस्परिक संबंध सामान्य ऐन्द्रिकता से रहित है। इसलिए शरत् की कृतियों में स्नेह की निर्मल मंदाकिनी बहती है, वासना की अनुषित वैतरणी नहीं।'[35]

प्रेम को कोई पाश्विक या स्वर्गीय दैवीय जैसे विभागों में बांटें, संभवतः यह शरत्चन्द्र को स्वीकार्य नहीं है। तभी तो उनकी किरणमयी (चरित्रहीन) का यह विश्वास है कि मनुष्य जन्म लेने के बाद से जब तक अपनी देह में सृष्टि शक्ति का संचय नहीं करता तब तक प्रेम का सिंहद्वार उसके आगे बंद ही रहता है। वह सिंहद्वारी प्रवृत्ति की ताड़ना से उन्मुक्त होता है। विश्व भर में सृष्टि का जो यह अविच्छिन्न खेल हो रहा है– वह रूप का ही खेल है– उसे स्वर्गीय स्वीकार नहीं करने से कुण्ठित या लज्जित होने कोई बात नहीं है।[36]

कहना नहीं होगा कि शरत् के नारी–पात्र अशरीरी अथवा अमांसल व वासवी नहीं हैं। वे हांड मांस मज्जा विनिर्मित नारियां है। हां उनके 'चरित्रहीन' की नायिका सावित्री अवश्य ही आदर्शवादी प्रतीत होती है। वह अपने प्रेमी सतीश को मनः प्राण से चाहकर भी स्वयं को समर्पित नहीं कर पाती यही उसके जीवन की विचित्रा विडम्बना है। सतीश के अधिकार को वह यद्यपि अपने उफपर स्वीकारती है :'मैंने बहुत दिनों से तुमको इतना दुख दिया, किंतु किसी तरह अपनी यह देह तुमको न सौंप सकी। पर मन तुम्हारा ही है। उस पर चिरकाल से तुम्हारा ही अधिकार है।'[37] इस सबका एक मात्र कारण यह है कि वह विधवा है बस यही शरत् की सीमा है।

इस संदर्भ में स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान कार्यरत महिलाओं की स्थिति दर्शनीय है। उन्हें प्रत्यक्ष रूप से तो सभी सज्जन बहनजी कहकर पुकारते थे लेकिन उनकी पीठ पीछे उन्हें बाई जी (वेश्या) ही कहकर पुकारते थे। सदा से ही राजनीतिक के क्षेत्रा में सभी जगह समान स्थिति है। सार्वजनिक कार्यकर्मी महिलाओं को प्रायः ही दुश्चरित्रा समझा जाता है। कोई भद्र पुरुष उनके साथ विवाह संबंध स्थापित नहीं करना चाहता। स्वतंत्रता संघर्षकाल के दौरान यही हाल था वास्तव में जब तक स्त्री विवाह बंधन में बंधकर घर की चारदीवारी के अंदर बंद रहती है तभी तक वह समाज द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। अन्यथा जब भी नारी अपने अधिकार अपने आत्मसम्मान और अपने अस्तित्व की मांग करती है या उसे प्राप्त करती है, तब उसे समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है और तरह–तरह के वाक–अलंकारों से उसे सजाया जाता है। कुलटा, दुष्चरित्रा, पतिता, बेहया आदि विशेषणों की झड़ी उसके लिए लग जाती है। जैसे ही वह उस वृत्त से बाहर पदनिक्षेप करती है तभी से उसके आचरण पर उंगलियां उठने लगती है। शरत्चन्द्र और जैनेन्द्र दोनों ने ही नारी की इस नियति को अपने उपन्यासों में बड़े मर्मान्तक, संवेदनशील व सहृदय रूप से निरूपित किया है।

6 संदर्भ सूची :

1. जैनेन्द्र, परख, पृ. 81
2. वही, पृ. 79
3. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत के नारी पात्र, पृ. 261
4. वही, पृ. 235
5. जैनेन्द्र, परख, पृ. 102
6. वही, पृ. 115
7. जैनेन्द्र, सुनीता, पृ. 11
8. वही, पृ. 22
9. जैनेन्द्र, सुनीता, पृ. 78–79
10. वही, पृ. 83
11. जैनेन्द्र, त्यागपत्र, पृ. 30
12. वही, सुनीता, पृ. 169
13. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत् के नारी पात्र, पृ. 30
14. जैनेन्द्र, त्यागपत्र, पृ. 64
15. वही, पृ. 66
16. जैनेन्द्र, त्याग पत्र, पृ. 86–87
17. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत् के नारी पात्र, पृ. 97
18. जैनेन्द्र, कल्याणी, पृ. 79
19. जैनेन्द्र, मंझली बहिन, पृ. 76
20. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत के नारी–पात्र, पृ. 76
21. शरत्चन्द्र, श्रीकान्त, पृ. 130
22. जैनेन्द्र, व्यतीत, पृ. 66–67
23. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत् के नारी–पात्रा, पृ. 57
24. सम्पा. राजकिशोर, स्त्री के लिए जगह, पुरुषोत्तम अग्रवाल का लेख, पृ. 138
25. वही, पृ. 140
26. वही, स्त्री के लिए जगह, पृ. 140
27. सम्पा. राजकिशोर, स्त्री के लिए जगह, पृ. 140
28. सुमन केसरी, नाम में क्या रखा है, नारी के लिए जगह, पृ. 73
29. वही, पृ. 75
30. जैनेन्द्र कुमार, व्यतीत, पृ. 66–67
31. वही, सूक्ति संचयन, पृ. 186
32. जैनेन्द्र कुमार, सुखदा, पृ. 9
33. वही, पृ. 89
34. शरत्चन्द्र, विराज बहु, पृ. 38
35. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत् के नारी पात्र, पृ. 42
36. वही, पृ. 56